

# ॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

## धर्म विवेचन प्रकरण

द्वितीयस्य दिनस्यात्र संगमे मुनयः समे।  
मनीषिणो यथाकालं संगता उत्सुका भृशम् ॥ १ ॥  
मौद्गल्यः प्रश्नकर्त्ताऽभूद्विषयतनो महान्।  
प्रपच्छ भगवन् ह्यस्तु महामानवनिर्मितः ॥ २ ॥  
अभिवृद्धिरिह प्रोक्ता महिमाऽस्यास्तथोदिता।  
अनिवार्यत्वमेतत् विषये ज्ञातुमस्ति च ॥ ३ ॥  
कान् व्रतान् पालयन् मर्त्यः देवता जायते ध्रुवम्।  
महामानव आदेयं तेन किं त्याज्यमत्र च ॥ ४ ॥  
विचार्य किं विधेयं च किं किमेतत्तु विस्तरात्।  
उच्यतां येन मर्त्याः स्युर्महामानवतां गताः ॥ ५ ॥  
आश्वलायन उवाच  
मौद्गल्यप्रमुखा मान्या ऋषयः संगतास्त्विवह।  
सर्वे शृण्वन्तु धर्मोऽस्ति केवलं ह्यवलंबनम् ॥ ६ ॥  
तथाविधं यदाश्रित्य मानवाः शान्तिमाप्नुयुः।  
सुखं चापि वसेयुस्ते रक्षिताः सर्वतः ॥ ७ ॥  
टीका—दूसरे दिन के संत समागम में सभी उत्सुक मुनि-  
मनीषी यथासमय उपस्थित हुए। आज के प्रश्नकर्त्ता मनीषी  
मौद्गल्य थे। उन्होंने पूछा, हे भगवन् कल महामानवों के  
उत्पादन अभिवर्द्धन की महिमा और आवश्यकता बताई गई

थी। उसे सुनकर यह जानने की उत्सुकता बढ़ी है कि किन  
व्रतों को अपनाने से मनुष्य देवमानव बनता है। उसे क्या  
छोड़ना पड़ता है और क्या अपनाना होता है? क्या सोचना  
और क्या करना पड़ता है? सो विस्तारपूर्वक कहें, जिससे  
मनुष्य महामानव बन सकें ॥ १-५ ॥

आश्वलायन जी ने कहा, हे मौद्गल्य समेत सभी ऋषि  
वर्ग आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें। धर्म ही एक मात्र अवलंबन  
है, जिसका आश्रय लेकर मनुष्य सुखशांति पाते, सुरक्षित  
रहते, आगे बढ़ते, और श्रेय पाते हैं ॥ ६-७ ॥

वर्द्धते चाऽधिगच्छन्ति श्रेयः सर्वविधं सदा।

धर्मो येषां प्रियः सर्वं जगत् स्निह्यति तेषु च ॥ ८ ॥

बलिष्ठो जायतेप्यात्मा कृपा वर्षति च प्रभोः।

व्यक्तो धर्मस्तु येनामुं त्यजंत्येव जनाः समे ॥ ९ ॥

स्वीकरोति च धर्मं यो नरः स्वागम्यते नरैः।

धर्मं रक्षति यः साक्षाद्रक्षितः स्वयमेव सः ॥ १० ॥

विकरोति च धर्मं यो विकृतिं याति स स्वयम्।

महत्त्वस्योपलब्धेर्ये नराः संतीच्छुकास्तु ते ॥ ११ ॥

धारणां धर्मजां सर्वे गृह्णन्ते तथैव च।

धर्मात्मभिः समं स्वं ते कुर्युश्चाचरणं सदा ॥ १२ ॥

टीका—जिन्हें धर्म प्रिय है वे वृद्धि को प्राप्त करते हैं  
और सब प्रकार के कल्याण को भी। उन्हें समस्त संसार प्यार

## २.८ प्रज्ञोपनिषद्

करता है। उनकी आत्मा बलिष्ठ होती है और ईश्वर का अजस्र अनुग्रह उपलब्ध होता है। इसलिए महानता उपलब्ध करने के इच्छुकों को धर्म धारणा अपनानी चाहिए और अपना आचरण धर्मात्माओं जैसा बनाना चाहिए। जिसने धर्म को छोड़ दिया, उसे सब छोड़ देते हैं। जो धर्म को अपनाता है उसे सब अपनाते हैं, जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी अपनी रक्षा होती है। जो धर्म को हराने का प्रयास करता है, वह स्वयं हार जाता है ॥ ८-१२ ॥

व्याख्या—धर्म-धारणा ही वह आदर्श है जिसे लक्ष्य मानकर महामानव स्वयं सफलता पाते एवं अनेकों के लिए दिशा धारा छोड़ जाते हैं। यदि स्वयं उदाहरण प्रस्तुत किया गया तो अन्य अनेकों सामान्यजन कैसे प्रेरणा ग्रहण करेंगे? अनुकरणीय कर्तृत्व धर्म के सूत्रों को जीवन में उतारकर ही बन पड़ता है, आचरण को श्रेष्ठ, उत्कृष्ट आदर्शवादिता का पक्षधर बनाना पड़ता है। धर्म का आचरण महामानवों का स्वयं का जीवन तो धन्य बनाती ही है, मेंहदी पीसने वाले के हाथ स्वतः रंग जाने के समान उन्हें तो लाभांवित करता ही है, समाज में सत्प्रवृत्तियों से भरा श्रेष्ठता का वातावरण भी बनता है।

व्याख्या—धर्म-धारणा ही वह आदर्श है जिसे लक्ष्य मानकर महामानव स्वयं सफलता पाते एवं अनेकों के लिए दिशा धारा छोड़ जाते हैं। यदि स्वयं उदाहरण प्रस्तुत किया गया तो अन्य अनेकों सामान्यजन कैसे प्रेरणा ग्रहण करेंगे? अनुकरणीय कर्तृत्व धर्म के सूत्रों को जीवन में उतारकर ही बन पड़ता है, आचरण को श्रेष्ठ, उत्कृष्ट आदर्शवादिता का पक्षधर बनाना पड़ता है। धर्म का आचरण महामानवों का स्वयं का जीवन तो धन्य बनाती ही है, मेंहदी पीसने वाले के हाथ स्वतः रंग जाने के समान उन्हें तो लाभांवित करता ही है, समाज में सत्प्रवृत्तियों से भरा श्रेष्ठता का वातावरण भी बनता है।

धर्म को जो सही अर्थों में समझते हैं, वे अनावश्यक क्रियाकृत्यों परंपरागत मान्यताओं में स्वयं को नहीं उलझाते। धर्म के तत्त्वदर्शन को जीवन में उतारते हैं। स्वयं को आत्मबल संपन्न बनाकर अन्य अनेकों के लिए प्रेरणा पुंज बनते हैं।

यश्चलेद्धर्ममार्गं च संस्थितोऽप्यत्र भूतले।

स्वर्गस्थैरिव देवैः स श्रेष्ठतां यास्यति स्वयम् ॥ १३ ॥

श्रुत्वा ध्यानेन तत्सर्वं विचार्यापि दृढं ततः।

औत्सुक्यात्पुनरेवायं मौद्गल्यायन आह च ॥ १४ ॥

टीका—जो धर्म मार्ग पर चलेगा, वह इस धरती पर रहते हुए भी स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की तरह श्रेष्ठ बनेगा। इस बात को सुनकर तथा विचार कर मौद्गल्य अपनी उत्सुकता प्रकट करते हुए बोले ॥ १३-१४ ॥

मौद्गल्यायन उवाच

धर्माः अनेके संत्यत्र संसारे देव तत्र च।

निर्धारणानि भिन्नानि समेषां निर्णयः कथम् ॥ १५ ॥

कर्त्तव्यश्चैष किं ग्राह्यं त्याज्यं किं पुरुषेण च।

संदेहेऽस्मिन् मतिस्तेन भ्रमतीव निरंतरम् ॥ १६ ॥

टीका—मौद्गल्यायन ने कहा हे देव संसार में अनेकानेक धर्म हैं। सबके निर्धारणों में भिन्नता है। इनमें से किसे अपनाया जाए, किसे नहीं इसका किस आधार पर निर्णय किया जाए? इस संदेह में हमारी बुद्धि भ्रमित हो रही है ॥ १५-१६ ॥

व्याख्या—अपनी स्वार्थ संकीर्णता और वर्ग विशेष के लिए गढ़ी गई मान्यताओं और परंपराएँ धर्म के यथार्थ रूप को विकृत बना देती हैं और सांप्रदायवाद को जन्म देती हैं। उसे पूर्ण नहीं समझना चाहिए।

आश्वालयन उवाच

एक एव तु धर्मोऽस्ति भद्रा निर्धार्यतामिदम्।

सर्वेभ्यश्च समानः स कर्त्तव्यं व्यक्तिगं च तत् ॥ १७ ॥

सामाजिकं च दायित्वं मंतव्यं पुरुषैरिह।

औत्सुक्यं चिंतनस्यैवं शालीन्यं व्यवहारगम् ॥ १८ ॥

चरित्रादर्शवादित्वं त्रयमेतत्समन्वितम्।

उच्यते धर्म इत्येवमृषिभिर्दिव्यदृष्टिभिः ॥ १९ ॥

टीका—आश्वालयन ने कहा भद्र धर्म एक ही है। वह सब मनुष्यों के लिए एक जैसा है। उसे व्यक्तिगत कर्त्तव्य और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह समझा जाना चाहिए। दिव्य दृष्टि संपन्न ऋषि चिंतन की उत्कृष्टता, चरित्र की आदर्शवादिता और व्यवहार की शालीनता के समन्वय को धर्म कहते हैं ॥ १७-१९ ॥

व्याख्या—धर्म की गरिमा भावना क्षेत्र को दिशा देने के कारण सर्वोपरि मानी गई है। व्यक्तित्व का गठन एवं परिष्कार धर्म के स्वरूप पर निर्भर है। धर्म मात्र एक एवं शाश्वत ही हो सकता है। मानवी अंतःकरण में उच्चस्तरीय आस्था जमाना, विचारों में सदाशयता जोड़ना, जिसका लक्ष्य हो, वह सारे विश्ववासियों के लिए सार्वभौम रहेगा। समाजगत अथवा वर्ण जातिगत विभाजनों के अनुरूप बदलेगा नहीं। यह भली भाँति समझ लिया जाना चाहिए कि भावना एवं विचारणा ही व्यक्ति की मौलिक संपदा एवं क्षमता है। इन्हीं का महत्त्व सर्वोच्च है। मानव के उत्थान पतन की भूमिका का सूत्र संचालन यहीं से होता है। यदि क्रिया-प्रक्रिया को नीति निष्ठा युक्त बनाने वाले धर्म का प्रारूप ही बदलने लगे तो नैतिकता समाज से लुप्त हो जाएगी। जहाँ धर्म है, वहीं नीति का, सदाचार का, श्रेष्ठता का निवास है। सांप्रदायगत विभाजनों से सामान्य जनों को भ्रमित नहीं होना चाहिए, अपितु धर्म के सार्वभौम शाश्वत स्वरूप को समझने, व्यवहार में उतारने का प्रयास करना

चाहिए।

धर्म का उद्देश्य स्वतः पूरा हो जाता है, जब व्यक्ति उदात्त चिंतन अपनाने, संकीर्ण स्वार्थपरता त्यागने एवं विभूतियों को समाज कल्याण हेतु समर्पित करने को उद्यत हो जाता है।

त्रिवेणी संगमं चैनमवगाहंत एव ये।

कायाकल्पमिवात्रैते लाभं विन्दन्ति मानवाः ॥ २० ॥

ते मानवशरीरस्था देवा इव सदैव च।

श्रेयः सम्मानमित्यर्थं विदन्त्यानन्दमुत्तमम् ॥ २१ ॥

भूय एव वदाम्येतद् धर्म एक इहोदितः।

समानश्चापि सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः स वर्तते ॥ २२ ॥

टीका—इस त्रिवेणी संगम का अवगाहन करने वाले कायाकल्प जैसा लाभ अर्जित करते हैं। उन्हें मनुष्य शरीर में रहते हुए भी देवताओं जैसा श्रेय, सम्मान और आनंद मिलता है। मैं फिर कहता हूँ कि धर्म अनेक नहीं एक है। वह सभी मनुष्य मात्र के लिए एक जैसा है ॥ २०-२२ ॥

व्याख्या—ऋषि श्रेष्ठ ने उत्कृष्ट चिंतन, आदर्शवादी चरित्र एवं शालीनता युक्त व्यवहार के समन्वय को त्रिवेणी संगम के समान पवित्र मानते हुए धर्म के इस स्वरूप को अपनाने वाले का कायाकल्प होने की व्याख्या यहाँ की है। वास्तविक त्रिवेणी यही है जो हमारे अंतः में विराजती है। मानव में काक होहिं पिक बकहुँ मराला के माध्यम से इसी की महत्ता बताई गई है। धर्म धारणा का जितना अच्छा स्पष्टीकरण इन तीन सूत्रों के माध्यम से होता दिखाई देता है, ऐसा किसी अन्य व्याख्या में दृष्टिगोचर नहीं होता। मनुष्य मात्र एक है, धर्म का स्वरूप शाश्वत है, वह भी एक है। गुण, कर्म, स्वभाव में यदि परिवर्तन न हो तो धर्म संबंधी सारे बाह्य उपकरण, शास्त्र-ग्रंथादि मात्र आडंबर बनकर रह जाते हैं। जो इस तत्त्वदर्शन को हृदयगम कर उन पर चलने का प्रयास करते हैं, वे निश्चित ही धर्म परायण कहे जा सकते हैं।

वर्तते शाश्वतो देवविहितः स सनातनः।

सुयोजितः स मर्त्यस्य नूनमत्रांतरात्मनि ॥ २३ ॥

प्रियानुभूतिर्धर्मः स आत्मनो विद्यते तथा।

जगन्मंगलमूलश्च निर्णयः परमात्मनः ॥ २४ ॥

एकः सः स्वयमेवापि पूर्णः एव च विद्यते।

खंडशो भवितुं नैव सोऽर्हतीत्येव चिंत्यताम् ॥ २५ ॥

कालानुसारं क्षेत्राणामनुसारमपीह च।

वर्गानुसारं वा धर्मपारम्पर्यमनेकधा ॥ २६ ॥

दृश्यते यत्र धर्मः स संप्रदायो मतोऽथवा।

पक्ष एव मतः साक्षान्मर्त्यभेदकरोऽशुभः ॥ २७ ॥

टीका—वह शाश्वत, सनातन और ईश्वरकृत है। उसे मनुष्य की अंतरात्मा में सँजोया गया है। वस्तुतः धर्म तो आत्मा की पुकार है, ईश्वर का निर्णय है और विश्व कल्याण का

वास्तविक कारण है। वह एक और अपने में समग्र है। उसके खंड नहीं हो सकते हैं यह दृढ़ता से समझ लो। क्षेत्र, समय, वर्ग के आधार पर जो धर्म परंपराएँ चलती हैं वे संप्रदाय कहलाती हैं। मत, पक्ष तो अनेक हैं ॥ २३-२७ ॥

स्वसमाजानिवार्याणि वीक्ष्याभीष्टानि तत्र ते।

मूर्द्धन्याः पुरुषास्तेषामाविर्भावं व्यधुः पृथक् ॥ २८ ॥

कालेन सह चैतेषु परिवर्तनमप्यलम्।

जायते तत्र तत्रैव संप्रदायेषु तद्वतः ॥ २९ ॥

परिष्कारकरामर्त्या महामानवसंज्ञकाः।

उत्पद्यन्ते प्रकुर्वन्ति जीर्णोद्धारमिवावस्य ते ॥ ३० ॥

यत्र यत्रानिवार्यः स्याद् वीक्ष्य तेषु च विक्रियाम्।

वस्त्रगेहेष्विवायांति संप्रदायेषु विक्रियाः ॥ ३१ ॥

जीर्णोद्धारश्चलत्येषां स्वच्छताऽपि तथैव च।

समाजस्योपयोगाय तदैवाहन्ति वस्तुतः ॥ ३२ ॥

टीका—अपने-अपने समाज की आवश्यकता देखते हुए मूर्द्धन्य जनों ने उनका आविर्भाव एवं प्रचलन किया है। समय बदलने के साथ-साथ उनमें हेर-फेर और सुधार परिवर्तन होता रहता है। हर धर्म संप्रदाय में सुधारक उत्पन्न होते रहते हैं, जो जब जहाँ टूट-फूट और विकृति दीखती है, तब उसकी मरम्मत करते रहते हैं। वस्त्रों और मकानों की तरह संप्रदाय में भी विकृतियाँ प्रवेश करती हैं और उनकी सफाई मरम्मत चलती रहती है। तभी वास्तव में ये समाज के उपयोगी हो सकते हैं ॥ २८-३२ ॥

व्याख्या—देव संस्कृति की यह विशेषता रही है कि समय-समय पर मनीषी अवतरित होते रहे हैं, एवं युगानुकूल परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए अपेक्षित सुधार परिवर्तन धर्म दर्शन में करते रहे हैं। वे यह भली प्रकार से जानते हैं कि मूलतत्त्व दर्शन एक होते हुए भी समय के अनुसार धर्म संप्रदायों के कलेवर में परिवर्तन करना पड़ सकता है। रुका हुआ पानी सड़ता व कीचड़ बनकर दुर्गंध फैलाता है। यदि प्रवाह न बनाया जाए तो विकृतियाँ समाज के वातावरण को दूषित कर सकती हैं। समय-समय पर पुनरीक्षण एवं तर्क, तथ्य, प्रमाणों के आधार पर विवेचना कर इसीलिए संस्कृति का परिशोधन किया जाता रहा है। यही एक महत्त्वपूर्ण कारण है कि अनेकों मत-मतांतर होते हुए भी देव संस्कृति अब भी एक बनी हुई है। पूर्वाग्रहों की विडंबना से वह सर्वथा मुक्त है।

संप्रदायस्य धर्मस्य भेदोऽस्माभिस्तु पूर्णतः।

ज्ञेय उद्गम एतेषामेक इत्यनुभूयताम् ॥ ३३ ॥

एकस्यैव समुद्रस्य लहर्यस्ताः सुविस्तृताः।

सूर्यस्यैकस्य विद्यन्ते किरणास्ते समेऽपि च ॥ ३४ ॥

मेघवर्षोदिता नद्यो निर्झरा इव ते समे।

तत्प्रवाहोऽभियात्यत्र जलधेर्दिशि संततम् ॥ ३५ ॥

## २.१० प्रज्ञोपनिषद्

टीका—हमें संप्रदाय और धर्म का अंतर समझना चाहिए। साथ ही यह भी अनुभव करना चाहिए कि उन सब का उद्गम एक है। वे एक ही समुद्र की अनेकानेक आकार-विस्तार वाली लहरें हैं। एक ही सूर्य की अनेक किरणें हैं। मेघ वर्षा की एक ही प्रक्रिया से वे नदी-निर्झरों की तरह जन्मे हैं और उन सबका प्रवाह समुद्र में जा मिलने की दिशा में समान रूप से प्रवाहित हो रहा है ॥ ३३-३५ ॥

व्याख्या—इस तथ्य को न समझने वाले, अपनी-अपनी श्रेष्ठता का दर्प दिखाते हुए झगड़ने रहते हैं, पर सत्य तो कुछ और ही है।

मौद्गल्ययायन उवाच

भवतः कृपया ज्ञातं महाप्राज्ञ समैरपि।

अस्माभिर्धर्म आधारो महामानवनिर्मितौ ॥ ३६ ॥

स्पष्टं जातं च धर्मोऽस्ति व्यक्तिकर्तव्यगस्तथा।

समाजोत्तरदायित्वस्थित आदर्शनिर्वहः ॥ ३७ ॥

बोध्यतां लक्षणान्यत्र यान्यादाय तु साधकः।

तत्तद् धर्मादिनिष्ठोऽपि महतां जीवनेऽर्जयेत् ॥ ३८ ॥

टीका—मौद्गल्य जी ने कहा, महाप्राज्ञ आपकी कृपा से हमने समझा कि महामानव बनने में धर्म का आधार बनता है। यह भी स्पष्ट हुआ कि धर्म व्यक्तिगत कर्तव्यों और सामाजिक उत्तरदायित्वों के आदर्शनिष्ठ निर्वाह को कहते हैं। कृपया यह और स्पष्ट करें, कि वे कौन से लक्षण हैं, जिन्हें किसी भी धर्म संप्रदाय का साधक जीवन में अपनाकर महानता अर्जित कर सकता है ॥ ३६-३८ ॥

आश्वलायन उवाच

लक्षणानि दशैवाऽस्य धर्मस्योक्तानि मूर्धंगैः।

युग्मपञ्चकरूपे च ज्ञातुं शक्या नैस्तु ते ॥ ३९ ॥

प्रथमे सत्यमेतत्तु विवेकश्चापरे पुनः।

कर्तव्यं संयमस्तत्र तृतीये त्वनुशासनम् ॥ ४० ॥

व्रतधारणमेतस्मिंश्चतुर्थे च पराक्रमः।

स्नेहसौजन्यमेवापि पञ्चमे सहकारिता ॥ ४१ ॥

परमार्थश्च गणितुं स शक्यः शक्या दशैव च।

प्रहरित्वेन ते मर्त्यगरिम्पो गदितुं भृशम् ॥ ४२ ॥

टीका—आश्वलायन ने कहा, मूर्द्धन्यों ने धर्म के दस प्रधान लक्षण बतलाए हैं। इन्हें पाँच युग्मों में भी जाना जाता है। प्रथम युग्म में आते हैं सत्य और विवेक। द्वितीय में संयम और कर्तव्य, तृतीय में अनुशासन और व्रत धारण, चतुर्थ में स्नेह-सौजन्य और पराक्रम तथा पंचम में सहकार और परमार्थ को गिना जा सकता है। इन दसों को मानवी गरिमा के प्रहरी दस दिक्पाल कहा जा सकता है ॥ ३९-४२ ॥

व्याख्या—धर्म की परिभाषा को सत्राध्यक्ष ऋषि श्रेष्ठ आश्वलायन ने यहाँ जिन दस गुणों के रूप में स्पष्ट किया है,

वह स्वयं में अद्भुत हैं। धर्मधारणा का मर्म समझने वाले सत्य, विवेक, संयम, कर्तव्य, अनुशासन, व्रतधारण, स्नेह, सौजन्य, पराक्रम, सहकार एवं परमार्थ जैसे मानवोचित गुणों को ही प्रधानता देते एवं अन्यान्यों को इन्हें अपनाने की प्रेरणा देते हैं। अध्यात्म के नाम पर दुंदुभि बजाने वाले बहुसंख्यक व्यक्ति इस विधा का क, ख, ग भी नहीं जानते एवं मात्र वेश बाह्याडंबर तक स्वयं को सीमित रखकर समयक्षेप तो करते ही हैं अन्य भोले व्यक्तियों के मन में धर्म के प्रति अनास्था जमा देते हैं। समय-समय पर मनीषीगण इसीलिए अवतरित होते रहते हैं ताकि वे जनमानस में संव्याप्त भ्रांतियाँ मिटा सकें एवं उन्हें धर्म के सही तत्त्वदर्शन का पक्षधर बना सकें।

धर्मस्यैषां दशानां तु लक्षणानां हि विवृतिः।

समन्वितेऽथ संक्षेपे वक्तुं पञ्चापि संभवाः ॥ ४३ ॥

योगशास्त्र इमान्येव प्रकारान्तरतो बुधैः।

यमादि नामतस्तत्र प्रोक्तान्यात्मशुभान्यलम् ॥ ४४ ॥

स्वीकृत्येमानि सिद्ध्येत्स संयमस्त्विन्द्रियोदितः।

पञ्चानामपि तेषां च प्राणानां सिद्ध्यति स्वयम्।

उपप्राणैः सहैवात्र विद्या पञ्चाग्नि शब्दिता ॥ ४५ ॥

टीका—इन धर्म के दस लक्षणों की व्याख्या संक्षेप में और समं वित रूप में करनी हो, तो उन्हें पाँच युग्म के रूप में भी माना जा सकता है। योगशास्त्र में इन्हीं को प्रकारान्तर से पाँच यम और पाँच नियम कहा गया है, जो आत्म कल्याणकारी माने गए हैं। इन्हें अपनाने से पाँच जननेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों का संयम सधता है। इन्हें अपनाने के बाद ही पाँच प्राणों, पाँच उपप्राणों की पञ्चाग्नि विद्या संपन्न होती है ॥ ४३-४५ ॥

योगिनश्चैतदाश्रित्य कुर्वन्तेऽनावृतान् समान्।

पञ्चकोषान् सिद्ध्यस्ता ऋद्धयश्चैभिरेव तु ॥ ४६ ॥

संगताः संति चैतानि योगान् पञ्चविधास्तथा।

साधितुं तानि पञ्चैव तपांस्यर्हन्ति च क्रमात् ॥ ४७ ॥

टीका—योगी जन इन्हीं को अपनाकर पाँच कोषों का अनावरण करते हैं। पाँच ऋद्धियाँ और पाँच सिद्धियाँ इन्हीं पाँच गुणों के साथ जुड़ी हैं। यही पाँच योग और पाँच तप साधने की आवश्यकता पूर्ण करते हैं ॥ ४६-४७ ॥

शिवस्याप्यथ रामस्य पञ्चायतनमुत्तमम्।

बोधयंतीदमेते च वराप्ताः पाण्डुपुत्रकाः ॥ ४८ ॥

पञ्चगव्यं पापनाशि पुण्यं पञ्चामृतं तथा।

इमान्येव यतस्ते द्वे चैतेषां पोषके ध्रुवम् ॥ ४९ ॥

टीका—इन्हीं को गीता के पाँच पाण्डव, राम पंचायतन और शिव पंचायतन समझा जा सकता है। पापनाशक पंचगव्य और पुण्य संवर्द्धक पंचामृत भी इन्हीं को मानना चाहिए, क्योंकि वह इनके पोषक हैं ॥ ४८-४९ ॥

पञ्चैव धर्मपुण्यानि जीवने व्यावहारिके।  
व्यवहर्तुं परः प्रोक्तः पुरुषार्थो मनीषिभिः ॥ ५० ॥  
एतानि पालयन्त्यत्र जना ये प्रेरयन्त्यपि।  
पालितुं साधनान्येव वार्जयन्ति तथा शुभाम् ॥ ५१ ॥  
वातावृतिं विनिर्मान्ति श्रेयो गच्छन्ति ते जनाः।  
लोकेऽथ परलोकेऽपि कृतकृत्या भवन्त्यलम् ॥ ५२ ॥

टीका—इन पाँच धर्म पुण्यों को जीवन में उतारना मनीषियों द्वारा परम पुरुषार्थ माना गया है। जो इन्हें पालते हैं, पालने की प्रेरणा देते हैं, साधन जुटाते और वातावरण बनाते हैं, वे लोक और परलोक में श्रेय पाते तथा हर दृष्टि से कृत-कृत्य हो जाते हैं ॥ ५०-५२ ॥

व्याख्या—जीवन की सार्थकता इसी में है कि कर्तव्य धर्म निबाहते हुए बहते निर्झर की तरह जिया जाए। जहाँ तक हो सके, दूसरों के लिए सार्थक एवं स्वयं को आत्मिक प्रगति की दृष्टि से ऊँचा उठाने वाला गरिमा भरा जीवन जीना ही श्रेयस्कर एवं वरणीय है। महापुरुषों का जीवनक्रम इसकी साक्षी देता है कि उन्होंने धर्म के इन दस लक्षणों का परिपालन करके एक समग्र सार्थक जिंदगी जी। वे न केवल स्वयं धन्य हुए, अन्य अनेकों के लिए प्रेरणा के प्रकाश स्तंभ भी बने।

मौद्गल्य उवाच

कृतकृत्या वयं देव ! श्रुत्वा धर्मस्य लक्षणम्।  
भवतः मूलभूतं तज्जीवनं सर्वदेहिनाम् ॥ ५३ ॥  
प्रत्यक्षे जीवने किंतु धर्मस्यार्थास्तु स्वेच्छया।  
प्रयोगाश्च कृताः कैश्चिन्मूलाधारातिदूरगाः ॥ ५४ ॥  
स्थितावेवं - विधायां च महत्तोषार्जनादिषु।  
धर्मधारोपयोगः स कथमत्र तु संभवेत् ॥ ५५ ॥

टीका—मौद्गल्य जी बोले, हे देव अपने धर्म के मूलभूत लक्षण जो प्राणिमात्र का जीवन है, समझकर हम कृतकृत्य हुए हैं, किंतु प्रत्यक्ष जीवन में धर्म के मनमाने अर्थ प्रयोग किए गए हैं जो इन मूल आधारों से बहुत दूर हो गए हैं। ऐसी स्थिति में महानता के उपार्जन में धर्म-धारणा का उपयोग कैसे संभव है? ५३-५५ ॥

आश्वलायन उवाच

धर्मध्वजनि एवं च समाश्रित्य व्यधुर्बहुम्।  
अनाचारमपि स्वार्थधियाऽनर्थानपि व्यधुः ॥ ५६ ॥

टीका—आश्वलायन जी बोले, लोगों ने धर्म की आड़ में अनाचार भी बरते हैं। उसके चित्र-विचित्र अर्थ भी लगाए हैं ॥ ५६ ॥

व्याख्या—मनुष्य का सहज स्वभाव है कि स्वार्थ की पक्षधर ऐसी मान्यता जो उसको लाभ पहुँचाती हो, पुष्टि स्वयं करे, अन्यायों से कराएँ ताकि बहुमत उसके पक्ष में हो। ऐसा बहुधा होता तब है, जब सभी उसके जैसे ही चिंतन के व्यक्ति

समाज में विद्यमान हों एवं प्रतिकार हेतु आने का किसी में कोई साहस न हो।

ततोऽपि मूले धर्मस्य भेदो नैवोपजायते।  
मेघाक्रांतो ग्रहाक्रांतो भवत्येव दिवाकरः ॥ ५७ ॥  
तथापि सत्ता नैवास्य तस्मात्स्वल्पं विकंपते।  
गंगायां प्रपतन्त्यत्र मलिनानि जलान्यपि ॥ ५८ ॥  
जलचरादिकजीवानां विष्ठादेरपि जाह्नवी।  
पवित्रतां निजां नैव जहात्येषाऽन्यपावनी ॥ ५९ ॥  
आरोहन्ति च कीटास्ते प्रतिमां परमात्मनः।  
न्यूनतां गौरवं नैव प्रयात्यस्यास्ततोऽप्य च ॥ ६० ॥  
धर्मच्छायाश्रिता नूनमनाचाराः सदैव च।  
संशोद्ध्याः परमेतेन महत्तायामथापि च ॥ ६१ ॥  
उपयोगेऽपि धर्मस्य संदेहः क्रियतां नहि।  
महामानवतां यांति धर्मात्मानो नरास्त्विह ॥ ६२ ॥

टीका—तो भी इससे धर्म के मूल स्वरूप में कोई अंतर नहीं आता। सूर्य पर बादल छाते और ग्रहण पड़ते रहते हैं, तो भी उसकी सत्ता स्वल्प मात्र भी विकंपित नहीं होती। गंगा के प्रवाह में अनेकों गंदे स्तोत्रों से जल आकर उसमें मिलता रहता है तथा जलचर आदि जीवधारी भी उसमें गंदगी करते रहते हैं, तो भी उसकी पवित्रता में कोई अंतर नहीं आता, क्योंकि उसमें स्वतः अन्यो को पवित्र करने की शक्ति है। देव-प्रतिमा पर कृमि-कीटक भी चढ़ जाते हैं, पर इससे उनकी गरिमा कम नहीं होती। धर्म की आड़ में चलने वाले अनाचार को सुधारा-बदला जाना चाहिए, पर उसकी महत्ता एवं उपयोगिता के संबंध में कोई संदेह नहीं करना चाहिए। धर्म परायण ही महामानव बनते हैं ॥ ५७-६२ ॥

ग्राह्या धर्मधृतिर्नूनं महामानवतां गतैः।  
पराभवति चाधर्मी विपुलं वैभवं तथा ॥ ६३ ॥  
पराक्रमश्च नात्यर्थं तिष्ठतीति रिरक्षया।  
उच्छलन्नपि नश्येत्स जलबुद्बुदतां गतः ॥ ६४ ॥  
इन्धनानीव लोकेऽस्मिंज्वलन्त्यपि च तत्क्षणात्।  
भस्मतां यांति स्वप्लपेन कालेनैते सदैव च ॥ ६५ ॥

टीका—महामानवों को अनिवार्यतः धर्मधारणा अपनानी होती है। अधर्मी का पराभव होता है। उसका विपुल वैभव और पराक्रम भी उसकी रक्षा में देर तक नहीं टिकता। पानी में उठने वाले बबूले की तरह क्षण भर की उछल-कूद के उपरांत उसका अंत होते देखा जाता है। अधर्मी क्षण भर ईंधन की तरह जलते-उबलते दीखते हैं, पर उनके राख बनकर समाप्त होने में भी विलंब नहीं लगता ॥ ६३-६५ ॥

व्याख्या—अधर्म का स्वरूप विराट प्रलंकारी दीखता भर है। दीपक की लौ बुझने के पूर्व तेजी से लपक उठती है पर अंततः बुझकर धुआँ ही परिणति बनकर रह जाता है।

## २.१२ प्रज्ञोपनिषद्

अनीति के पक्षधरों आक्रांताओं के पास चाहे कितना ही वैभव क्यों न हो, बल की दृष्टि से वे संपन्न भले ही क्यों न हों, हार उनकी होकर ही रहती है। यह एक अकाट्य-शाश्वत सिद्धांत है एवं इसमें किसी को संशय नहीं होना चाहिए। विभिन्न अवतारों के प्राकट्य के समय अनीति हमेशा चरमसीमा पर रही है परंतु छोटे-छोटे साधनों एवं पुरुषार्थ की दृष्टि से नगण्य से व्यक्तियों को अपना सहायक बनाकर उन्होंने अधर्म की त्रासदी को मिटाया एवं धर्म की स्थापना की है। इससे एक तथ्य स्पष्ट होता है कि अधर्म-अनीति दमन से जूझने के लिए संघ शक्ति के जुटने भर की आवश्यकता है। वह नष्ट तो होगी ही, उसे झुकना पड़ेगा ही पर तब ही जब जन-जन का मन्यु जागे, उनमें चेतना उमगे।

**व्यवस्था जगतश्चैषा कर्मणः फलमाश्रिता।**

**चलत्यत्र तरोर्जन्मप्रौढता मध्यगो महान्॥ ६६॥**

**कालो विलंबरूपोऽयं व्यत्येत्येवं सुकर्मणाम्।**

**परिणामस्य प्राप्तौ स विलंबः संभवत्यलम्॥ ६७॥**

**करका इव वर्षति दुर्जनाः पीडयन्ति च।**

**मर्यादां सकलां धान्यसंपदामिव सर्वदा॥ ६८॥**

**ते स्वयं नष्टतां याति द्रवीभूताः परं क्षुपाः।**

**प्ररोहन्ति पुनस्ते तु कथञ्चित्समये गते॥ ६९॥**

**विलम्बं वीक्ष्य गच्छेन भ्रमं कर्मफले नरः।**

**हताशेन न भाव्यं च शुभमार्गानुयायिनः॥ ७०॥**

टीका—कर्मफल की सुनिश्चितता के आधार पर ही यह विश्व व्यवस्था चल रही है। वृक्ष को उगने से लेकर प्रौढ़ होने में देर लगती है। सत्कर्मों के सत्परिणाम मिलने में देर हो सकती है। इसी प्रकार दुर्जनों को ओलों की तरह बरसते और मर्यादाओं की फसल नष्ट करते देखा जाता है, पर ओले गलकर स्वयं नष्ट हो जाते हैं परंतु उनके कारण टूटे हुए पौधे कुछ समय बाद फिर नए सिरे से पल्लवित होते देखे गए हैं। कर्मफलों में विलंब लगते देखकर सन्मार्ग में प्रवृत्त किसी को भी न भ्रम में पड़ना चाहिए और न हताश होना चाहिए॥ ६६-७०॥

व्याख्या—बीज को गलकर वृक्ष का रूप लेने की प्रक्रिया समय साध्य है। जो अधीरता बरतते हैं कर्मों का प्रतिफल तुरंत चाहते हैं, उन्हें निराश ही होना पड़ता है। इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि दुष्कर्मों की प्रतिक्रिया नहीं होती, जो दूरदर्शी होते हैं, वे कर्मफल व्यवस्था में सच्चे आस्तिकवादी की तरह विश्वास रखते हैं।

**धर्मधारणया मर्त्या जायन्त उन्नतास्तथा।**

**महामानवतां तस्मादधिगच्छन्ति चांततः॥ ७१॥**

**केवलं धर्मचर्चा ते श्रुत्वाऽधीत्याऽपि वा पुनः।**

**संतुष्टा नैव जायन्ते कृतां वा धार्मिकीं क्रियाम्॥ ७२॥**

**पर्याप्तं न विजानन्ति परं तत्रानुशासनम्।**

**विद्यते यद् विगृह्णन्ति तदैवैते स्वतस्तथा॥ ७३॥**

**नैवालस्यं प्रमादं वा भजन्ते ते मनागपि।**

**निर्धारणानि कर्तुं च व्यवहारान्वितानि तु॥ ७४॥**

**ईदृशा एव मर्त्यास्तु महामानवतामिह।**

**अञ्जसाऽऽसाद्य सार्थक्यं नयन्त्यत्र स्वजीवनम्॥ ७५॥**

टीका—धर्म-धारणा अपनाकर मनुष्य ऊँचे उठते आगे बढ़ते और महामानव कहलाते हैं। वे मात्र धर्मचर्चा सुनने-पढ़ने से संतुष्ट नहीं होते और न धर्मानुष्ठानों के क्रियाकृत्य को ही पर्याप्त मानते हैं, वरन् उसके जुड़े हुए अनुशासन को अपनाते और निर्धारणों को क्रियान्वित करने में आलस्य प्रमाद नहीं बरतते। ऐसे लोग सहज ही महामानव बनने की जीवन सार्थकता उपलब्ध करते हैं॥ ७१-७५॥

**निर्मातव्यं जगत्सर्वं महामानवरूपिभिः।**

**कल्पवृक्षैः सुपूर्णं तन्नन्दनं वनमुत्तमम्॥ ७६॥**

**साधु विप्रस्तरा देवपुरुषा निर्वहन्तु च।**

**उपार्जनस्य दायित्वमेतन्मर्त्यशुभावहम्॥ ७७॥**

**एतदर्थं व्यवस्थास्यात्वाध्यायस्याथ संततम्।**

**सत्संगस्य तथा सेवासाधनासंयमादिकाः॥ ७८॥**

**क्रियान्विता भवन्त्यत्र सत्प्रवृत्तय एव च।**

**धर्मस्यात्रमहत्त्वं च बोध्यं बोध्याः परेऽपि च॥ ७९॥**

**परिणतीस्तस्य प्रत्यक्षास्तथ्यतर्कप्रमाणकैः।**

**शक्याः कर्तुं प्रबुद्धैश्चेन्नराणां हृदयंगमाः॥ ८०॥**

टीका—संसार को महामानवों के कल्पवृक्षों से हराभरा नंदन वन बनाया जाना चाहिए। इस उपार्जन का मंगलमय उत्तरदायित्व साधु ब्राह्मण स्तर के देवपुरुषों को उठाते रहना चाहिए। इसके लिए स्वाध्याय और सत्संग की व्यवस्था बनी रहनी चाहिए। साधना, संयम और सेवा की सत्प्रवृत्तियों की नियमित रूप से कार्यान्वित होते रहना चाहिए। धर्म का महत्त्व समझा और समझाया जाना चाहिए। उसके प्रत्यक्ष परिणामों के आधार पर हृदयंगम कराया जा सके, तो उसे सहज ही लोग अपनाने लगेंगे॥ ७६-८०॥

**अञ्जसैव तदा धर्ममनुयास्यन्ति तं जनाः।**

**धर्मात्मानः स्वमाचारं प्रस्तुन्वन्तु नृसम्मुखे॥ ८१॥**

**उत्तमं चेज्जनाः सर्वेऽप्यनुयास्यन्ति तं सदा।**

**आचरन्ति च यच्छ्रेष्ठाः सामान्या अनुयान्ति तम्॥ ८२॥**

टीका—धर्मात्मा अपना आचरण उदाहरण लोगों के सम्मुख रखें तो लोग उसका अनुकरण करने लगेंगे। प्रतिभाशाली जो करते हैं, उसी का अनुकरण अनुगमन होने लगता है॥ ८१-८२॥

प्रारंभ में थोड़े ही लोगों पर प्रभाव पड़े तो भी हर्ज नहीं। हर व्यक्ति अपनी बात मान ले, यह आवश्यक तो नहीं।

धार्मिका धर्ममाख्यांतु परं तेन सहैव च।  
आचरंतोऽपि निष्ठां स्वामादर्शं प्रस्तुवन्तु च ॥ ८३ ॥  
आचरंति जना एवं येऽपि ते वस्तुतः समे।  
धर्ममुत्तमरीत्याऽत्र सेवन्ते सत्यसंश्रयाः ॥ ८४ ॥  
लभन्ते पुण्येमेतेऽत्र जना धर्मप्रचारगम्।  
तस्य सेवाविधेश्चापि साधनाया उताऽपि च ॥ ८५ ॥  
धर्मस्य चर्चया किञ्चित्सिद्धयेनैव प्रयोजनम्।

वाचालयोपदेशस्य भाररूपतया भुवि ॥ ८६ ॥

टीका—धर्मप्रेमी, धर्म का बखान विवेचन भी करें, किंतु साथ-साथ उसका आचरण करते हुए आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा का प्रमाण परिचय भी प्रस्तुत करें। जो ऐसा करते हैं वे धर्म की सच्ची सेवा करते हैं। धर्म प्रसार की महती सेवा-साधना का पुण्य और श्रेय ऐसों को ही मिलता है। धर्म की चर्चा करने मात्र से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। वाचलतापूर्ण उपदेश भार रूप ही होते हैं ॥ ८३-८६ ॥

अतीतकालीन इतिहास महान धर्म प्रेमियों, सच्चे धर्म सेवियों से भरा पड़ा है।

कर्मणो वचनस्यात्र भिन्नत्वादुपहास्यताम्।  
उपदेष्टा ब्रजत्यत्राविश्वासो वर्द्धतेऽपि च ॥ ८७ ॥  
महामानवतां यातुं धर्मस्याचरणं तथा।  
धर्मविस्तरजं कार्यविधिं चोभयपक्षगम् ॥ ८८ ॥  
श्रुत्वाऽस्य स्वीकृतेर्दिव्यः परामर्शः सुखावहः।  
श्रोतॄणां तत्र सोऽभूच्च भविष्यत्समये समैः ॥ ८९ ॥  
अत्र कार्यविधौ ध्यानं दातुं चाऽधिकमेव तु।  
निश्चितं स्वप्रयासे च क्रमो नव्यः सुयोजितः ॥ ९० ॥

आरण्यकं स्वकं दिव्यं सर्वे स्थापयितुं तथा।

प्रयोजनमिदं कृत्वा तीर्थयात्राऽभिनिर्गमे ॥ ९१ ॥

उपक्रमाय सोत्साहं योजना विस्तृता निजे।

चित्ते निर्मातुमारब्धा व्यधुः स्फुरितचेतनाः ॥ ९२ ॥

टीका—वचन और क्रम की भिन्नता रखने पर उपहास होता है, अविश्वास बढ़ता है। महामानव बनने के लिए धर्माचरण और धर्म विस्तार की उभयपक्षीय कार्यविधि अपनाने का परामर्श सभी श्रोता जनों को बहुत सुहाया। उनसे भविष्य में इस ओर अधिकाधिक ध्यान देने और प्रयास करने का निश्चय किया। इस संबंध में अब तक के अपने प्रयास में नई तत्परता के समावेश का नया कार्यक्रम बनाया। वे आरण्यक चलाने और तीर्थयात्रा पर इस प्रयोजन के लिए निकलने की उत्साहपूर्वक तैयारी के लिए सुविस्तृत योजनाएँ अपने-अपने मन में बनाने लगे, क्योंकि उनकी चेतना जग गई थी ॥ ८७-९२ ॥

समये च समाप्तेऽयं सत्संगोऽद्यतनस्ततः।

वातावृतौ शुभोत्साहपूर्णायां विधिपूर्वकम् ॥ ९३ ॥

समाप्तस्तेऽन्वभवन् सर्वे महामानवतैव च ॥

लब्धव्या पुरुषैरेवं भवेत्स्वर्गः स्वयं धरा ॥ ९४ ॥

टीका—समय समाप्त होने पर आज का सत्संग उत्साह भरे वातावरण में विधिवत समाप्त हो गया। सभी ने अनुभव किया कि महामानव बनना मनुष्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है, उसी से पृथ्वी स्वयं स्वर्ग बन जाएगी ॥ ९३-९४ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञापनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री आश्वलायन-मौद्गल्य ऋषिसंवादे धर्म विवेचन इति प्रकरणो नाम

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥